वेदकी उपादेयता

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

'यस्य निश्वसितं वेदाः' उस परब्रह्म परमात्माके निःश्वासभूत वेदोंका प्रादुर्भाव प्रगल्भ तप और प्रखर प्रतिभापूर्ण महर्षियोंके अविच्छिन्न ज्ञानद्वारा स्वतः प्रस्फुटित शब्दराशिसे हुआ। मानव उसी ज्ञानसे धर्माधर्म, आवास-निवास, आचार-विचार, सभ्यता-संस्कृतिका निर्णय करता हुआ गूढ अध्यात्म-तत्त्वोंका विवेचन कर ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदयका भागी बना और बन सकता है। जिस प्रकार शब्दादिज्ञानके लिये चक्षु आदि इन्द्रिय-वर्ग अपेक्षित होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंद्वारा अगम्य एवं अज्ञात तत्त्वोंके ज्ञापनार्थ वेदकी आवश्यकता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

बड़े-से-बड़ा तार्किक अपनी प्रबल शक्तिद्वारा पदार्थकी स्थितिका प्रयत्न करता हुआ अन्य प्रबल तार्किकको प्रतिभापूर्ण बुद्धिके द्वारा उपस्थापित तर्कसे स्वतर्कको निस्तत्त्व मानकर अपने प्रामाण्यार्थ वेदकी शाखामें जाते देखा गया है। इसीलिये **'स्वर्गकामो यजेत'**, **'कलञ्जं न भक्षयेत्'** इत्यादि वेदवाक्योंद्वारा प्रतिपादित विहित प्रवर्तन, निषिद्ध निवर्तनमें कोई भी तर्क अग्रसर नहीं किया जा सकता। संध्योपासन धर्मजनक है, सुरापान अधर्मोत्पादक है, इसकी सिद्धि वेदवाक्यातिरिक्त अन्य किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य नहीं, इसलिये वेदकी आवश्यकता है। वेदकी प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'आस्तिक' और वेदविरुद्ध प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। इसीलिये कोषकार अमरसिंहने भी **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** लिखा है। आस्तिक सम्प्रदायवाले वेदनिन्दक ईश्वरावतारपर भी विश्वास नहीं करते और न वे उनको मान्यता ही देते हैं।

वेदका स्वाध्याय

इसीलिये आस्तिक-वर्गने वेदके स्वाध्यायको अपनाया। शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है कि—

'यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसञ्च अक्षय्यञ्च य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।'

अर्थात् जो व्यक्ति रत्नोंसे परिपूर्ण समस्त पृथिवीको दान कर देता है, उस दानसे उत्पन्न पुण्यकी अपेक्षा वेदके स्वाध्यायसे उत्पन्न हुआ पुण्य कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, मनु महाराजने तो यहाँतक कहा है कि—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(मनु० १२। १०२)

तात्पर्य यह कि वेदादि शास्त्रोंके अर्थ-तत्त्वको जाननेवाला ब्राह्मण जिस किसी भी स्थान और आश्रममें निवास करे, उसे ब्रह्मतुल्य समझना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च;
मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।'

(महाभाष्य १। १। १)

ब्राह्मणको बिना किसी प्रयोजनके छः अङ्गोंसहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार अध्ययन कर शब्दप्रयोग करनेवालेके माता-पिता इस लोक और परलोकमें महत्ता प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो ब्राह्मण वेदाध्ययनमें प्रवृत्त न होकर इधर-उधर परिभ्रमण (व्यर्थ परिश्रम) करता है, उसकी निन्दा स्वयं मनु महाराजने भी की है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनु० २। १६८)

इस वाक्यके अनुसार जो द्विज वेदातिरिक्त अन्य पठन-पाठन (शिल्पकला आदि)-में परिश्रम करता है, वह सवंश जीवित ही शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें द्विजाति-मात्रको स्वधर्म समझकर वेदाध्ययनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

अधिकार

सभी धार्मिक ग्रन्थोंमें वेदाध्ययनका अधिकार द्विजको ही दिया गया है, द्विजेतरको नहीं। इसका मुख्य कारण है वेदशास्त्रकी आज्ञा— **'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि'** अर्थात् 'विद्या ब्राह्मणके समीप जाकर बोली— मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ'। वह अन्यके पास नहीं गयी; क्योंकि मुख्यतः ब्राह्मण ही विद्याके रक्षक हैं— वेदरूपी कोषका कोषाध्यक्ष ब्राह्मण ही है। दूसरी बात यह है कि **'उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेद् विधिम्'** गुरु शिष्यका उपनयन-संस्कार कर विधिपूर्वक शौचाचार-शिक्षणद्वारा

वेदाध्ययन कराये। **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षं राजन्यम्। द्वादशवर्षं वैश्यम्।'** (पा० गृ० सू० २। २। १—३)—इन वाक्योंद्वारा त्रिवर्णका ही उपनयन-संस्कार वेदादि सत्-शास्त्रोंद्वारा हो सकता है। जब द्विजेतरोंका उपनयन-संस्कार ही नहीं, तब उनके लिये उपनयनमूलक वेदाध्ययनकी चर्चा बहुत दूर रह जाती है। चतुर्थ वर्णके व्यक्तियोंको कला, कौशल, दस्तकारी आदिकी शिक्षाका विधान किया गया है। शास्त्रपर विश्वास न करनेवालोंके विषयमें क्या कहें, वे तो ईश्वरके दयापात्र ही हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥

जिस वर्ग, समाज और व्यक्तिकी रक्षा भगवान्को इष्ट होती है, उसकी बुद्धि वे शुद्ध कर देते हैं। वह व्यक्ति बुद्धिसे पदार्थका निर्णय कर प्रवृत्ति-निवृत्तिका निश्चय करनेके योग्य बन जाता है।

वैदिक धर्म और संस्कृति

वैदिक कालमें अधिकांशमें स्वाध्याय और अध्ययनमें ही समय व्यतीत होता था। समयका दुरुपयोग करनेवाले चल-चित्रादि साधन उस समय नहीं थे। कुछ लोग गृहस्थ-जीवन बनाकर इन्द्रादि देवोंकी ऋक्-सूक्तोंद्वारा उपासना करते तथा वैदिक कर्मकाण्डका आश्रय ग्रहण करते और स्वयं उत्पन्न नीवार आदिसे जीवन-निर्वाह करते थे। इनके छोटे-छोटे बालकोंको राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंकी प्रक्रिया कण्ठस्थ रहती थी तथा इनका जीवन विचार-प्रधान होता था। आडम्बरका गन्ध भी नहीं था। नदियों और उपवनोंके स्वच्छ तटोंपर रहकर स्वाध्याय करते हुए आत्मचिन्तन करना ही इनका परम लक्ष्य था। आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार वे दैवी उपायोंसे करते थे। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी दस्युओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी स्तुति करते थे और अपनी रक्षामें सफल होते थे। उस समयकी प्रजा सत्त्वगुण-प्रधान थी।

वर्तमान

आज हमारा समाज वैदिक परम्पराको अनुपादेय समझ कर उसका परित्याग करता चला जा रहा है। वैदिक केवल मन्त्रोच्चारणमात्रसे ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अङ्गोंके अध्ययनकी ओर उनकी रुचि ही नहीं है। वैयाकरण और साहित्यिकोंका थोड़ेसे सूत्रों तथा कुछ मनोरंजक पद्योंपर ही पाण्डित्य समाप्त हो जाता है। पहले विद्वानोंकी प्रतिभा और उनका परिश्रम सर्वतोमुखी होता था; अतः इस सम्बन्धमें सबको सावधानी बरतनी चाहिये।

वेद कथाङ्क (कल्याण-गीताप्रेस)